

अनेक विद्वान् प्रौद्योगिक और आर्थिक कारकों की तुलना में सांस्कृतिक कारकों को सामाजिक परिवर्तन का सबसे प्रमुख आधार मानते हैं। वास्तव में, संस्कृति मनुष्य का वह पर्यावरण है जिसका निर्माण स्वयं मनुष्य के द्वारा होता है। हम जितने भी भौतिक पदार्थों, विश्वासों, आदतों, व्यवहार के ढंगों और परम्पराओं से धिरे होते हैं, निश्चय ही हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करने में इनकी भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती है। संस्कृति को परिभाषित करते हुए टायलर (E.B. Tylor) ने लिखा है, “संस्कृति वह जटिल सम्पूर्णता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा इसी प्रकार की उन सभी क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।” इसी तरह पिडिंगटन (R. Piddington) का कथन है कि “संस्कृति उन भौतिक और बौद्धिक साधनों अथवा उपकरणों की सम्पूर्णता है जिनके द्वारा मानव अपनी जैवकीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करके अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।” बोगार्डस (Bogardus) के शब्दों में, “किसी समूह के कार्य करने और विचार करने के तरीकों की सम्पूर्णता का नाम ही संस्कृति है।” इन कथनों से स्पष्ट होता है कि संस्कृति का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। संस्कृति में उन सभी भौतिक और अभौतिक तथ्यों का समावेश होता है जिन्हें व्यक्ति सामाजिक सीख के द्वारा प्राप्त करता है अथवा जिनका वह निर्माण करता है। इस प्रकार संस्कृति का एक पक्ष भौतिक है जिसमें विभिन्न प्रकार की भौतिक वस्तुओं, जैसे—उपकरणों, मशीनों, इमारतों, कलात्मक वस्तुओं, खाद्य पदार्थों और जीवन में उपयोग में लायी जाने वाली अनेक दूसरी वस्तुओं का समावेश होता है। संस्कृति का दूसरा पक्ष अभौतिक अथवा अमूर्त है जिसमें हम विभिन्न प्रकार के विश्वासों, विचारों, नियमों, प्रथाओं, परम्पराओं और शिष्टाचार के तरीकों को सम्मिलित करते हैं। स्पष्ट है कि संस्कृति के यह सभी भौतिक और अभौतिक तत्व सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

मैकाइवर (MacIver) का कथन है कि सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों की भूमिका प्रौद्योगिक कारकों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती है। इसका उदाहरण देते हुए मैकाइवर ने लिखा है कि एक कारखाने अथवा जहाज का निर्माण करना प्रौद्योगिकी का काम है लेकिन उस कारखाने में हम किस डिजायन के कपड़े बनायेंगे अथवा एक जहाज से किन-किन स्थानों की यात्रा करेंगे, इसका निर्धारण हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर होता है। सांस्कृतिक विशेषताएँ ही व्यक्तियों के विचारों, मनोवृत्तियों और व्यवहार के तरीकों का निर्धारण करती हैं। इस आधार पर सॉरोकिन, ऑगबर्न, मैक्स वेबर तथा अनेक दूसरे विद्वानों ने सांस्कृतिक कारकों को सामाजिक परिवर्तन का सबसे प्रमुख आधार स्वीकार किया है। प्रस्तुत विवेचन में हमारा उद्देश्य कुछ प्रमुख सांस्कृतिक कारकों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति की विवेचना करना है।

सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारक

(CULTURAL FACTORS OF SOCIAL CHANGE)

सामाजिक परिवर्तन पर सांस्कृतिक कारकों के प्रभाव को स्पष्ट करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि सांस्कृतिक कारक से हमारा अभिप्राय क्या है तथा प्रमुख सांस्कृतिक कारक कौन-कौन से हैं ? वास्तव में, संस्कृति के विभिन्न प्रतिमान अथवा दशाएँ जो सांस्कृतिक संरचना का प्रमुख अंग होती हैं, उन्हीं को हम सांस्कृतिक कारक कहते हैं। इस दृष्टिकोण से कुछ सांस्कृतिक कारकों जैसे—प्रौद्योगिकी, भौतिक आविष्कारों तथा दैनिक उपयोग में लायी जाने वाली वस्तुओं का रूप इतना

स्पष्ट होता है कि उनके प्रभावों की स्पष्ट माप की जा सकती है। दूसरी ओर, संस्कृति के अभौतिक से सम्बन्धित विशेषताओं, जैसे—धार्मिक आचार, मनोवृत्तियाँ, विचार अथवा विश्वास हमारे व्यवहार को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित अवश्य करते हैं लेकिन उनके प्रभाव की निश्चित माप कर सका बहुत कठिन है। इसके बाद भी यह सच है कि जब भी किसी समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं में परिवर्तन होता है अथवा नयी सांस्कृतिक विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं तो उनका हमारे सामाजिक सम्बन्धों परिवर्तन होता है अथवा नयी सांस्कृतिक विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं तो उनका हमारे सामाजिक संरचना और सामाजिक संस्थाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसी दशा को हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों के प्रभाव को भिन्न-भिन्न रूप से स्पष्ट किया है। इनमें से अधिकांश विचार कुछ सांस्कृतिक सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। निम्नांकित विवेचन में हम कुछ प्रमुख सिद्धान्तों के सन्दर्भ में सामाजिक परिवर्तन पर सांस्कृतिक कारकों के प्रभाव को संक्षेप में स्पष्ट करेंगे :

1. सांस्कृतिक विलम्बना (Cultural Lag)— ऑगबर्न (Ogburn) ने सांस्कृतिक विलम्बना को सामाजिक परिवर्तन के सर्वप्रमुख कारक के रूप में स्पष्ट किया है। इसे स्पष्ट करते हुए ऑगबर्न ने बताया कि मोटे तौर पर संस्कृति को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—1. भौतिक संस्कृति तथा 2. अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति वह है जिसका एक मूर्त स्वरूप होता है। इसमें उन सभी भौतिक पदार्थों को सम्मिलित किया जाता है जिनका मनुष्य द्वारा निर्माण किया गया है तथा जिन्हें मनुष्य अपने उपयोग में लाता है। उदाहरण के लिए, विभिन्न प्रकार की मशीनें, उपकरण, इमारतें, वस्त्र, बर्तन तथा कलात्मक वस्तुएँ भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत आती हैं। दूसरी ओर अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है तथा इसका कोई स्थूल रूप नहीं होता। हमारे सभी विश्वास, विचार, प्रथाएँ तथा परम्पराएँ आदि अभौतिक संस्कृति के उदाहरण हैं। इन दोनों संस्कृतियों में से जब एक भाग दूसरे की अपेक्षा अधिक परिवर्तित हो जाता है अथवा एक भाग दूसरे की तुलना में पिछड़ जाता है, तब इसी दशा को हम ‘सांस्कृतिक विलम्बना’ अथवा ‘सांस्कृतिक पिछड़’ कहते हैं। इससे समाज में असन्तुलन की दशा उत्पन्न हो जाती है। यही दशा सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण है।

सांस्कृतिक विलम्बना की दशा को ऑगबर्न ने अनेक उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया है। वर्तमान युग में हम बड़ी-बड़ी मशीनों से उत्पादन करके तथा नये-नये आविष्कार करके भौतिक क्षेत्र में बहुत प्रगति कर चुके हैं लेकिन हमारे विश्वासों और मनोवृत्तियों का रूप आज भी बहुत पुराना है। इसका अर्थ यह है कि भौतिक संस्कृति अभौतिक संस्कृति की तुलना में बहुत आगे बढ़ गयी है। इसी तरह हमारी आर्थिक, जनसंख्या सम्बन्धी तथा औद्योगिक दशाओं में बहुत परिवर्तन हो चुका है लेकिन समाज के नियमों का ढाँचा पहले जैसा ही बना हुआ है। यह स्थिति भी सांस्कृतिक विलम्बना को स्पष्ट करती है। समाज में जब कभी भी संस्कृति का एक भाग दूसरे की तुलना में आगे बढ़ जाता है तो व्यवहार के नये-नये ढंगों का विकास होता है तथा लोगों की मनोवृत्तियाँ एक-दूसरे से भिन्न हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप लोगों को समाज के नये सिरे से अनुकूलन करना आवश्यक हो जाता है। इस समय विभिन्न संस्थाओं के परम्परागत कार्यों में परिवर्तन होने लगता है। यह सभी दशाएँ ऐसी हैं जो सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहन देती हैं।

2. प्रौद्योगिक विलम्बना (Technological Lag)— संस्कृति के केवल भौतिक और अभौतिक पक्षों में ही असन्तुलन पैदा नहीं होता बल्कि कभी-कभी भौतिक संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं में ही असन्तुलन की दशा उत्पन्न हो जाती है। इसे मैकाइवर ने ‘प्रौद्योगिक विलम्बना’ के नाम से सम्बोधित किया। प्रौद्योगिक विलम्बना को स्पष्ट करते हुए मैकाइवर ने लिखा है, ‘‘प्रौद्योगिक विलम्बना एक ऐसी दशा है जिसमें किसी प्रौद्योगिक प्रक्रिया से सम्बन्धित अनेक भागों में से कोई एक भाग अपनी आवश्यक कार्यकुशलता को बनाये रखने में इस तरह असफल हो जाता है कि सम्पूर्ण प्रक्रिया के मार्ग में या तो अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं अथवा वह प्रक्रिया बिल्कुल रुक जाती है।’’ इस दशा को अनेक उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है। प्रौद्योगिक विकास के साथ मोबाइल की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है लेकिन उनके अनुसार सड़कों को चौड़ा करने में अधिक सफलता नहीं मिल पाती। उत्पादन के काम में श्रम-विभाजन को बहुत अधिक महत्व दिया जाने लगता है लेकिन विभिन्न कार्यों में लगे हुए लोगों की कार्यकुशलता को बढ़ाने के लिए प्राविधिक शिक्षा संस्थाओं में उतनी वृद्धि नहीं हो पाती।

तात्पर्य यह है कि जब कभी भी भौतिक संस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों के बीच का सम्बुलन बिंदु जाता है, तब इसी दशा को हम प्रौद्योगिक विलम्बना कहते हैं। समाज में जब कभी भी प्रौद्योगिक विलम्बना की दशा उत्पन्न होती है तो बहुत-से व्यक्ति अपनी दशाओं से अनुकूलन नहीं कर पाते। फलस्वरूप अनेक सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन समस्याओं को दूर करने के लिए योजनाबद्ध प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। ऐसे सभी प्रयत्न सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को बहुत तेज कर देते हैं।

3. परसंस्कृति-ग्रहण (Acculturation)—रेडफील्ड, लिन्टन तथा हर्षकोविट्स ने परसंस्कृति-ग्रहण को सामाजिक परिवर्तन के एक प्रमुख सांस्कृतिक कारक के रूप में स्पष्ट किया। परसंस्कृति-ग्रहण की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा, “परसंस्कृति-ग्रहण का तात्पर्य एक ऐसी दशा से है जो विभिन्न संस्कृतियों वाले समूहों के एक-दूसरे के निकट और निरन्तर सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है तथा जिसके फलस्वरूप उन समूहों में से किसी एक या दोनों की मौलिक सांस्कृतिक विशेषताओं में परिवर्तन हो जाता है।” इससे स्पष्ट होता है कि जब एक समूह अपने से भिन्न किसी दूसरे समूह की सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करने लगता है, तब इस प्रक्रिया को परसंस्कृति-ग्रहण कहा जाता है। यही दशा सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख कारण है। वास्तव में, परसंस्कृति-ग्रहण एक चेतन प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत एक समूह दूसरे की सांस्कृतिक विशेषताओं को अधिक उपयोगी समझकर उन्हें जान-बूझकर ग्रहण करता है। धीरे-धीरे यह नई सांस्कृतिक विशेषताएँ ही उस समूह के सदस्यों के व्यवहारों का स्थायी अंग बन जाती हैं। जिन समाजों पर किसी अन्य समूह का राजनीतिक-अथवा आर्थिक दबाव होता है, उन समाजों में परसंस्कृति-ग्रहण की प्रक्रिया अधिक तीव्र होती है। कभी-कभी परसंस्कृति-ग्रहण की प्रक्रिया इतनी स्वाभाविक होती है कि एकाएक इसका आभास भी कठिनता से हो पाता है। ऐसा तब होता है जब दो विभिन्न संस्कृतियों वाले समूह काफी समय तक एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में रहते हैं। इस दशा में एक छोटे समूह द्वारा अपने से बड़े समुदाय की संस्कृति को ग्रहण किया जाने लगता है। उदाहरण के लिए, जब एक जनजाति किसी सभ्य समाज के सम्पर्क में आती है, तब उस जनजाति के सदस्य धीरे-धीरे अपने से बाहरी संस्कृति की विशेषताओं को ग्रहण करने लगते हैं। जब कभी भी कोई समूह अथवा समुदाय परसंस्कृति-ग्रहण से प्रभावित होता है, तब उसमें व्यवहार के परम्परागत ढंगों में परिवर्तन होने लगता है, सामाजिक संस्थाओं तथा नियमों का रूप बदलने लगता है तथा नई संस्कृति को पूरी तरह ग्रहण न कर पाने के कारण समूह में अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह सभी दशाएँ सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करती हैं।

4. संस्कृति का प्रसार (Diffusion of Culture)—अनेक विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन को ‘प्रसार के सिद्धान्त’ (Theory of Diffusion) के आधार पर स्पष्ट किया। इनमें क्लार्क विसले (Clark Wissley) का नाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। विसलर ने अमेरिका की रेड इण्डियन जनजाति की सांस्कृतिक विशेषताओं का अध्ययन करके यह स्पष्ट किया कि प्रत्येक संस्कृति एक विशेष केन्द्र में विकसित होती है और धीरे-धीरे वहीं से उसका समीप के दूसरे स्थानों में प्रसार होने लगता है। शाब्दिक रूप से प्रसार का अर्थ ‘फैलना’ होता है। इसका तात्पर्य है कि जब एक-दूसरे के सम्पर्क में रहने से विभिन्न समूहों की विशेषताएँ एक-दूसरे के बीच फैलने लगती हैं, तब इसे हम सांस्कृतिक प्रसार की दशा कहते हैं। वास्तव में, ‘संस्कृति प्रसार’ तथा ‘परसंस्कृति ग्रहण’ एक-दूसरे से भिन्न दशाएँ हैं। उदाहरण के लिए भारत और यूरोप की सांस्कृतिक विशेषताएँ एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इसके बाद भी भारत में जब अंग्रेजों का शासन आरम्भ हुआ तो उनके निकट सम्पर्क में रहने के कारण भारतीयों में पश्चिमी संस्कृति की विशेषताओं का प्रसार होने लगा। एम.एन. श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया को ‘पश्चिमीकरण’ के नाम से सम्बोधित किया है। पश्चिमीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें तार्किक ज्ञान, व्यक्तिवादिता, समानता, स्वतन्त्रता और मानवतावादी दृष्टिकोण का समावेश होता है। भारत में जब इन सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रसार हुआ, तब हमारी सामाजिक संस्थाओं जैसे—परिवार, विवाह, जाति